आधुनिक संदर्भ में प्राचीन भारतीय शिक्षा दर्शन

भवेश कुमार*

शिक्षा, जीवन यात्रा का पाथेय एवं मानवीय विकास का सशक्त संसाधन है। इस संदर्भ में भारतीय शिक्षा दर्शन का गौरवमय इतिहास रहा है। प्राचीन भारतीय शैक्षिक व्यवस्था की कतिपय विशेषताएँ-गुरुकुल की आवासीय व्यवस्था, शिक्षक का उच्चतम् आदर्श एवं शिक्षा के प्रति समर्पण, शिष्य से आचार्य का पुत्रवत् संबंध, गुरु-शिष्य का भावपूर्ण आत्मीय संबंध, शिक्षार्थी का पवित्र ब्रह्मचर्य जीवन, अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए शिक्षा, स्वानुशासन, इकहरी शिक्षा व्यवस्था (सबके लिए समान शिक्षा), निःशुल्क शिक्षा, विद्यार्थी का सतत् मूल्यांकन आदि आज भी कदाचित् शिक्षा के गुणात्मक विकास के लिए सर्वथा प्रासंगिक है। प्रस्तुत अध्ययन में प्राचीन भारतीय शिक्षा व्यवस्था की इन्हीं विशेषताओं को आधुनिक शिक्षा के संदर्भ में स्पर्श करने का प्रयास किया गया है।

शिक्षा मानव की मूलभूत आवश्यकता है। यह मानव विकास का सशक्त संसाधन है। एक आदर्श विकसित राष्ट्र का उदय वृहद् भौगोलिक क्षेत्र एवं प्राकृतिक संसाधनों की प्रचुरता मात्र से ही नहीं, वहाँ के चरित्रवान, श्रमशील एवं प्रबुद्ध नागरिकों से होता है। जापान इसका जीता-जागता उदाहरण है। 'अशिक्षा जनतंत्र का प्रमुख अभिशाप है।'[1] प्लेटो की यह उक्ति मात्र जनतंत्र तक सीमित नहीं, सभी शासन प्रणालियों पर प्रयुक्त होती है। शिक्षा और राष्ट्रीय विकास का परस्पर सह-संबंध है। आज विश्व के जापान, नार्वे, स्वीडन, न्यूजीलैण्ड, डेनमार्क, स्विटज़रलैण्ड, आयरलैण्ड आदि छोटे-छोटे देश जहाँ साक्षरता लगभग शत्-प्रतिशत है, विकास के उच्च शिखर पर स्थित हैं। अफ्रीका एवं एशिया के अनेक राष्ट्रों के पिछड़ेपन का प्रमुख कारण वहाँ की साक्षरता प्रतिशत की न्यूनता है। अतः विश्व के सभी राष्ट्र शिक्षा के प्रचार-प्रसार में सतत् संलग्न हैं। भारत ने भी स्वतंत्रता के बाद इस दिशा में लंबी छलाँग लगायी है। देश के सुदूर ग्राम्यांचलों तक विद्यालयों, महाविद्यालयों का

*बी-454, एन.एच.-4, एनटीपीसी कॉलोनी, रिहंद नगर, सोनभद्र, उत्तरप्रदेश-231223

संजाल स्थापित हुआ है। हमारा शिक्षा-प्रतिशत काफी बढ़ा है। हमारे प्रौद्योगिकीय एवं प्रबंधन संस्थानों ने अंतर्राष्ट्रीय जगत में ख्याति अर्जित की है। आज भारत के शिक्षाविद् प्रमुखत: तकनीकी विशेषज्ञ (टेक्नोक्रेट्स) विश्व में अपनी मेधा का प्रदर्शन कर रहे हैं किन्तु इस प्रगति के बाद भी अभी बहुत कुछ किया जाना शेष है। 6-14 आयु वर्ग के बालक-बालिकाओं के नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा के संवैधानिक प्रावधान[2] एवं शिक्षा के मौलिक अधिकार[3] के बाद भी देश के शत-प्रतिशत बच्चों का नामांकन विद्यालयों में सुनिश्चित नहीं किया जा सका है। शिक्षा आज तक देश में सर्वसुलभ नहीं हो सकी है। आज भारत में विश्व के सबसे अधिक निरक्षर रहते हैं। विश्व के कुल निरक्षरों का लगभग एक तिहाई भाग यहाँ निवास करता है। 6-14 आयु वर्ग के बच्चों को अनिवार्य एवं नि:शुल्क शिक्षा प्रदान करने के लिए पूरे देश में पाँच लाख से अधिक शिक्षकों के पद रिक्त हैं।[4] विद्यालयों में विद्यार्थियों के अनुपात में भौतिक एवं शैक्षिक संसाधन उपलब्ध नहीं हैं। उच्च शिक्षा में गुणात्मक शिक्षा को कौन कहे, देश के युवाओं के अनुपात में हम महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना नहीं कर सके हैं। ज्ञान आयोग के एक प्रतिवेदन के अनुसार युवाओं की संख्या के अनुपात में देश में 1500 विश्वविद्यालयों एवं 50,000 महाविद्यालयों की और स्थापना होनी चाहिए। उच्च शिक्षा की स्थिति यह है कि भारत सरकार उच्च शिक्षण संस्थानों को शैक्षिक रूप से समृद्ध बनाने के लिए विदेशी विश्वविद्यालयों को यहाँ लाने के लिए प्रावधान बनाने में संलग्न है। जबकि सदियों पूर्व यहाँ तक्षशिला और नालंदा जैसे अंतर्राष्ट्रीय, ख्यातिलब्ध विश्वविद्यालय थे, जिनमें विश्व के अनेक देशों के विद्यार्थी अध्ययन के लिए आते थे।

आज देश में गहरा चारित्रिक संकट है। शिक्षालयों में यह नैतिक ह्रास शिक्षार्थी और शिक्षक दोनों स्तर पर परिलक्षित हो रहा है। विद्यालयों में अध्ययन-अध्यापन, अनुशासन, चरित्र, नैतिकता, श्रमशीलता, प्राचीन गुरुकुलीय गुरु-शिष्य संबंध, गुरु के प्रति सम्मान एवं समर्पण आदि वातावरण का सर्वथा अभाव है। हमारी शिक्षा विद्यार्थियों को जिज्ञासु बनाने में असफल सिद्ध हो रही है। अधिकांश विद्यार्थी समय से विद्यालय में उपस्थित नहीं होते, शिक्षा में उनकी अभिरुचि नहीं होती, कक्षाओं से पलायन करते हैं, परीक्षाओं में अनुचित साधनों का प्रयोग करते हैं। विद्यार्थियों में शील सम्पन्नता, अनुशासन, आज्ञापालन, समाज-सेवा, लक्ष्य के प्रति समर्पण एवं प्रतिबद्धता का अभाव विद्यमान है। कदाचित् उनके समक्ष कोई उच्च आदर्श प्रतिमान (रोल मॉडल) भी नहीं है। आज शिक्षा एक व्यवसाय का रूप ग्रहण कर चुकी है। विद्यालयों में मेधावी, विद्याविनय, शिक्षण-कौशल सम्पन्न, शिक्षण व्यवसाय के प्रति समर्पित, विषय विशेषज्ञ आचार्यों का भी अभाव है, शासकीय एवं राज्य-वित्तपोषित अशासकीय विद्यालयों की नियुक्तियों में भ्रष्टाचार एवं संसाधनों के अभाव में आर्थिक कारणों से शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ती निजी भागीदारी के फलस्वरूप शिक्षा में और गुणात्मक ह्रास आया है। शिक्षण व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता एवं अभिरुचि न रखने वाले

मात्र रोजगार के लिए शिक्षा में (अपेक्षाकृत कम योग्यता वाले) आए अध्यापकों के कारण भी शिक्षा में काफ़ी गिरावट आई है। देश के युवाओं की वन-निर्माण से संबंधित शिक्षा जैसे पुनीत कार्य में संलग्न कतिपय शिक्षक युग-प्रवाह में भौतिक आकर्षण से अपने मूल कर्तव्यों की उपेक्षा करते हुए व्यक्तिगत शिक्षण/कोचिंग संस्थाओं के संचालन, राजनीति या आय के अन्य स्रोतों से धनार्जन में संलग्न हैं।

शिक्षा वस्तुतः, सच्चे अर्थों में जीवन निर्माण करने वाली, मनुष्य बनाने वाली, चरित्र-गठन करने वाली एवं जीवन में मानवीय मूल्यों का विकास करने वाली होती है। स्वतंत्रता के छः दशक बाद भी हमारी शिक्षा देश के युवाओं को आत्मनिर्भर बनाने एवं उनमें उच्च नैतिक मूल्यों को समाहित करने में असफल रही है। शिक्षण संस्थान विद्यार्थियों के मस्तिष्क में मात्र पुस्तकीय ज्ञान भरने तक सीमित हैं। विद्यार्थियों का ऊर्जावान बहुमूल्य जीवन सैद्धांतिक विषयों को रटने-रटाने में व्यतीत हो रहा है। विश्वविद्यालय मात्र युवाओं के मस्तिष्क में भरे हुए पुस्तकीय ज्ञान के परीक्षण के संस्थान बने हुए हैं। वे ऐसी उपाधियाँ वितरित कर रहे हैं जिनकी जीवन में कोई विशेष उपयोगिता नहीं, जिनसे डिग्रीधारी बेरोज़गार युवाओं की मात्र लंबी फौज़ खड़ी हो रही है। हमारी वर्तमान मूल्यांकन विधा भी अंक अर्जन पर आधारित है। परीक्षा में मस्तिष्क में भरे हुए ज्ञान को उगल कर जो अधिक अंक अर्जित करता है वह श्रेष्ठ घोषित किया जाता है। वर्तमान परीक्षा प्रणाली में दक्षता, कौशल, मानवीय मूल्यों एवं चारित्रिक विकास के मूल्यांकन की कोई विधा विद्यमान नहीं है। इनके अतिरिक्त गुणात्मक शिक्षा, शिक्षा के मूलभूत उद्देश्य, बहुआयामी पाठ्यक्रम, शिक्षण-पद्धति, रोज़गारपरक शिक्षा, मानवीय मूल्यों के विकास हेतु शिक्षा आदि विषयों पर भी चिंतन अपेक्षित है। प्रस्तुत अध्ययन में प्राचीन शिक्षा दर्शन के आलोक में उन बिन्दुओं को स्पर्श करने का प्रयास किया गया है जो आधुनिक शिक्षा के लिए मार्गदर्शी-प्रासंगिक हो सकते हैं।

शिक्षा का उद्देश्य

भारतीय शिक्षा दर्शन में विद्या को अमृत एवं अविद्या को मृत्यु कहा गया है तथा शिक्षा का उद्देश्य 'सा विद्या या विमुक्तये' अर्थात समस्त सांसारिक बन्धनों-अभावों से मुक्ति प्रदान करते हुए अमरत्व (मोक्ष-जीवन का श्रेष्ठतम विकास) सुनिश्चित करना था। प्राचीन भारत में पुरुषार्थ चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) की प्राप्ति जीवन का अभीष्ट था। इस अभीष्ट में जीवन का समग्र लौकिक (अर्थ और काम) एवं पारलौकिक (धर्म और मोक्ष) उत्कर्ष समाहित था। शिक्षा जीवन में पुरुषार्थ चतुष्टय को प्राप्त करने का प्रमुख साधन थी। शिक्षा का उद्देश्य जीवन में अभ्युदय (पूर्ण भौतिक उत्कर्ष) एवं निःश्रेयस (आध्यात्मिक विकास) सिद्ध करना था। प्राचीन विद्या केंद्र, गुरुकुल एवं आश्रम इन्हीं विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए परा (ब्रह्म या अध्यात्म विद्या) एवं अपरा विद्या (लौकिक विद्या) के माध्यम से ऐसी शिक्षा में संलग्न थे जिससे

चरित्रवान, श्रमशील, विद्याविनय सम्पन्न, तेजस्वी विद्यार्थी उद्‌भूत होते थे। कदाचित् शिक्षा का यही उद्देश्य भारतीय शिक्षाविदों डॉ. राधाकृष्णन की नैतिकता एवं चरित्र निर्माण करने वाली शिक्षा, महर्षि अरविन्द की आध्यात्मिक विकास की शिक्षा, स्वामी विवेकानन्द की जीवन निर्माण करने वाली, मनुष्य बनाने वाली एवं चरित्र गठन करने वाली तथा महात्मा गांधी की शरीर, मन एवं आत्मा की सर्वोत्तम विकास करने वाली शिक्षा की अवधारणा का अभिप्रेरक है। कदाचित् शिक्षा का यही उद्देश्य पाश्चात्य विचारक पेस्टालाजी की मनुष्य की अन्त:निहित शक्तियों का स्वाभाविक सामंजस्यपूर्ण प्रगतिशील विकास संबंधी शिक्षा का भी मार्गदर्शी है। स्वतंत्रता के लंबे अंतराल के बाद भी शिक्षा के इस उद्देश्य को हम प्राप्त नहीं कर सके हैं और आज भी यह हमारे लिए आदर्श बना हुआ है।

नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा

नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की वर्तमान संवैधानिक अवधारणा भारत में सभ्यता के प्रारंभ-वैदिक काल से ही विद्यमान थी। प्राचीन भारतीय अवधारणा में पितृऋण से उन्मुक्त होने के लिए पुत्रोत्पत्ति ही आवश्यक नहीं थी, पुत्रों का सुशिक्षित एवं ज्ञानवान होना भी अनिवार्य था।[5] ऋषिऋण से भी मुक्ति के लिए मंत्रद्रष्टा ऋषियों के ज्ञान का प्रचार-प्रसार एवं अध्ययन-अध्यापन आवश्यक था। शिक्षा को अनिवार्य बनाने के उद्देश्य से भारतीय चिन्तकों (ऋषियों) ने मानव जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास चार आश्रमों में विभक्त किया और आश्रमवास एवं उसके नियमों का अनुपालन अनिवार्य बताया। ब्रह्मचर्य आश्रम विद्यार्जन, चरित्र निर्माण एवं व्यक्तित्व विकास का आश्रम था। इस आश्रम में अध्ययन अनिवार्य था। याज्ञवल्क्यस्मृति में स्वाध्याय का परित्याग उपपातक (अपराध) घोषित है।[6] सबको शिक्षा प्रदान करने हेतु प्रचुर मात्रा में अध्यापक उपलब्ध हों, एतदर्थ समाज के एक वर्ग विशेष का अध्यापन कर्तव्य निर्धारित किया गया। अध्यापन प्रत्येक विद्वान ब्राह्मण का अनिवार्य कर्तव्य था। गृहस्थ के पंचयज्ञों में ब्रह्मयज्ञ महत्त्वपूर्ण यज्ञ के रूप में परिगणित है।[7] अध्यापन ही ब्रह्मयज्ञ था।[8] विद्वान ब्राह्मण के लिए नि:शुल्क शिक्षा देना अनिवार्य किया गया। शुल्क लेकर अध्ययन उपपातक (अपराध) घोषित है।[9] ज्ञान का विक्रय समाज में हेय दृष्टि से देखा जाता था। ब्रह्मयज्ञ संपादन के लिए प्रत्येक ब्राह्मण के साथ कुछ शिष्यों का होना आवश्यक था। इन शिष्यों में आचार्य के पुत्र भी समाहित थे। आचार्य का गृह ही विद्यालय था। आचार्य पुत्रवत् अन्य शिष्यों के लिए भी भोजन, आवास एवं नि:शुल्क शिक्षा की व्यवस्था करते थे। इस प्रकार के विद्यालयों का प्रचलन वैदिक काल में विशेष रूप से था।[10] कालांतर में उच्च शिक्षा के उद्देश्य से गुरुकुलों एवं आश्रमों का उदय हुआ। गुरुकुल एवं आश्रम उच्च शिक्षा के केंद्र थे। प्राचीन भारत में आचार्य भारद्वाज, गौतम, परशुराम, महर्षि व्यास, कण्व, अगस्त्य, वशिष्ठ, विश्वामित्र, वाल्मीकि, द्रोणाचार्य, संदीपनि एवं शौनक आदि ऋषियों के आश्रम उच्च शिक्षा के केंद्र के रूप में प्रख्यात थे। शिक्षा को नि:शुल्क बनाने के उद्देश्य से विद्याश्रमों के संचालन के लिए राजा और प्रजा

का मुक्त हस्त से दान देने का कर्तव्य निर्धारित किया गया। जिससे आचार्य भौतिक चिंताओं से मुक्त होकर गुणात्मक शिक्षा प्रदान कर सकें। बौद्धकाल में विश्वविख्यात नालन्दा विश्वविद्यालय, जिसमें दस हजार आवासीय विद्यार्थी एवं एक हजार आचार्य कार्यरत् थे, दान में प्राप्त दो सौ ग्रामों के राजस्व एवं उत्पाद से संचालित था। निर्धन से निर्धन विद्यार्थी भी शिक्षा ग्रहण कर सके इसके लिए भिक्षा ग्रहण करना ब्रह्मचारी का अनिवार्य कर्तव्य निर्धारित किया गया। समाज के सभी वर्ग की शिक्षा के लिए एक समान शिक्षा व्यवस्था थी। राजा, रंक और आचार्य के पुत्र एक ही साथ गुरुकुल में अध्ययन करते थे। निर्धन सुदामा महर्षि संदीपनि के आश्रम में श्रीकृष्ण के सहपाठी थे। राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न सामान्य ब्रह्मचारियों के साथ महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में अध्ययन करते थे।

सबके लिए शिक्षा

प्राचीन भारत में शिक्षा व्यवस्था अत्यंत समृद्ध थी। शिक्षा सबके लिए विद्यमान थी। डॉ. अल्तेकर के अनुसार उपनिषद् काल में भारत में साक्षरता 80 प्रतिशत थी। उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार उसी को था जो शिक्षित होने पर शिक्षा प्रदान करने के लिए प्रस्तुत रहता था।[11] समावर्तन संस्कार के समय स्नातक यह व्रत लेता था कि वह समाज में शिक्षार्थियों को विद्या दान करेगा।[12] प्राथमिक शिक्षा सबको सुलभ थी। प्रथमतः प्राथमिक शिक्षा का दायित्व कुल का था। माता-पिता बालक के प्रथम शिक्षक थे। पिता ही प्रायः अक्षर ज्ञान कराता था। पढ़ना, लिखना एवं समझना प्रारंभिक शिक्षा में समाहित था। आचार्य चाणक्य के अनुसार राजकुमारों की शिक्षा अक्षर ज्ञान एवं अंक ज्ञान से आरम्भ होता थी।[13] माता आचार-व्यवहार की शिक्षा देती थीं। परिवार बालक की प्रथम पाठशाला थी। कालांतर में योग्य माता-पिता के अभाव तथा शिक्षा में विशिष्टीकरण के फलस्वरूप प्रारंभिक शिक्षा का दायित्व पुरोहित या आचार्य की परिधि में समाविष्ट हुआ। दक्षिण भारत से प्राप्त शिलालेखों से यह उल्लेख मिलता है कि सामान्यतः सामूहिक रूप से पूरे गाँव की ओर से ही पाठशाला संचालित होती थी। पाठशाला में शिक्षक प्रायः गाँव के पुरोहित होते थे।[14] बौद्ध काल में जनभाषा में प्राथमिक शिक्षा का विस्तार हुआ। लोगों को आत्मनिर्भर बनाने के उद्देश्य से व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा की व्यवस्था थी। यह शिक्षा प्रायः वंशगत थी। प्रत्येक वर्ण के व्यक्तियों को उसकी अभिरुचि के अनुसार कर्मकाण्ड, पौरोहित्य, अस्त्र संचालन, धनुर्विद्या, कृषि, पशु-पालन, वाणिज्य, विविध शिल्प, कला-कौशल, संगीत गायन-वादन, नृत्य, अभियंत्रण (भवन निर्माण), भवन, रक्षा तथा समाजोपयोगी विविध उपकरणों एवं यंत्रों के निर्माण की व्यावसायिक एवं औद्योगिक शिक्षा प्रदान की जाती थी। उच्च शिक्षा का अवसर योग्य एवं मेधावी व्यक्तियों के लिए सुलभ था। वैदिक कर्मकाण्ड, यज्ञादि धार्मिक कृत्य एवं अध्यापन का कार्य प्राचीन भारत में एक वर्ण विशेष (ब्राह्मण) का कर्तव्य था। अतः उसके लिए वेद, वेदांग एवं धर्मशास्त्रों का अध्ययन अनिवार्य था किन्तु ब्राह्मण का यह विशेषाधिकार

जात्या नहीं उसकी धर्मज्ञता, सदाचार संपन्नता एवं वेदपारंगता के कारण था।[15] ब्राह्मण को वेदाध्ययन की सुविधा ब्राह्मणवंश में उत्पन्न होने के कारण नहीं उसकी मेधा, शिक्षा की पात्रता, ज्ञान-पिपासा एवं भौतिक आकर्षणों से दूर रहते हुए बिना किसी भौतिक व्यवसाय के शिक्षा के प्रति समर्पण के कारण प्राप्त थी। मनु ने तो आचारच्युत, धर्म विरुद्ध आचरण करने वाले गुणविहीन ब्राह्मण को असंभोज्य (धार्मिक कृत्यों में भोजन कराने के अयोग्य), असंयाज्य (यज्ञ-याजन के अयोग्य), असंपाठ्य (अध्यापन के अयोग्य), अविवाह्य (संभ्रान्त परिवार में विवाह के लिए अपात्र) एवं यहाँ तक कि अप्रणम्य (अभिवादन के भी योग्य नहीं)[16] घोषित किया है।

वस्तुतः प्राचीन भारत में उच्च शिक्षा के लिए विद्यार्थी का चयन योग्यता एवं मानसिक क्षमता के आधार पर होता था। सभी वर्णों के लिए उच्च शिक्षा में प्रवेश का द्वार खुला हुआ था। अम्बरीष, त्रसदस्यु, अश्वमेध, विश्वामित्र आदि अनेक वैदिक ऋषि क्षत्रिय थे। ऋग्वेद का तृतीय मण्डल विश्वामित्र के कुल की कृति मानी जाती है।[17] प्रसिद्ध शल्य चिकित्सक आचार्य सुश्रुत विश्वामित्र के वंशज कहे जाते हैं। ऐतरेय ब्राह्मण के लेखक महीदास शूद्रामाता के पुत्र थे।[18] वाजसनेयी संहिता में वैदिक शिक्षा के अधिकारी चारों वर्ण कहे गए हैं।[19] अश्वपति, जनक, प्रवाहण, जैवलि आदि अनेक उपनिषद् कालीन क्षत्रिय आचार्यों का उल्लेख मिलता है जिनके पास धर्म-दर्शन के अध्ययन के लिए ब्राह्मण/ब्रह्मचारी आते थे।[20] आदिकालीन धर्मशास्त्रों में रथकार (अब्राह्मण) को उपनयन और वेदाध्ययन का अधिकार होने का उल्लेख मिलता है।[21] वैदिक विद्या के शिखर पुरुष वादरायण वेदव्यास मछुआरे की कन्या के पुत्र कहे जाते हैं। किंवदंती के अनुसार ऋतम्भरा प्रज्ञा संपन्न महर्षि वाल्मीकि शूद्र (जनजाति) कहे जाते हैं। इनका प्रसिद्ध विद्याश्रम था जहाँ लवकुश ने अध्ययन किया था। छांदोग्योपनिषद् के अनुसार दासी जबाला के पुत्र सत्यकाम जावाल महर्षि गौतम के शिष्य थे। मनुस्मृति और महाभारत को उद्धृत करते हुए प्रोफ़ेसर पाण्डुरंग वामन काणे उल्लेख करते हैं कि शुभ विद्या के लिए शूद्र भी आचार्य हो सकते हैं।[22] बौद्धकाल में नालन्दा विश्वविद्यालय में प्रवेश विशुद्ध योग्यता के आधार पर प्रवेश परीक्षा के माध्यम से होता था। महात्मा बुद्ध के महान चिकित्सक जीवक राजगृह की सालावती नामक राज परिचारिका (दासी) के पुत्र थे। महान गणितज्ञ एवं ज्योतिर्विद ब्रह्मगुप्त वैश्य थे। चीनी यात्री फाह्यान (पाँचवी शताब्दी) एवं ह्वेनसांग तथा इत्सिंग (सातवीं शताब्दी) की शिक्षा व्यवस्था के वर्णनों में भी शिक्षा में वर्ण-भेद का कोई उल्लेख नहीं मिलता। अतः स्पष्ट है कि वैदिक काल में योग्यता के आधार पर उच्च शिक्षा में अवसर उपलब्ध था। कालांतर में स्मृति काल में वर्ण के स्थान पर जाति व्यवस्था का उदय होने लगा। स्मृतियों में नारी एवं शूद्र के लिए वेदाध्ययन के निषेध का उल्लेख प्राप्त होता है।[23] जो सर्वथा अमानवीय कहा जा सकता है। आज देश में शिक्षित बेरोजगार युवाओं की पंक्ति निरंतर लंबी हो रही है। अतः शिक्षा को जीवनोपयोगी बनाने

के लिए प्राचीन भारतीय आदर्श-एक निश्चित अवधि की शिक्षा के बाद छात्र की अभिरुचि के अनुसार सभी के लिए व्यावसायिक शिक्षा तथा योग्यता के आधार पर अध्यापन, शोध एवं उच्च तकनीकी शिक्षा हेतु प्रतिभा सम्पन्न मेधावी विद्यार्थियों को उच्च शिक्षा के अवसर की उपलब्धता कदाचित् आज भी समीचीन है।

शिक्षक-शिक्षार्थी संबंध

शिक्षक, शिक्षार्थी और शिक्षालय शिक्षा के प्रमुख घटक हैं। प्राचीन भारत में आचार्य का गृह ही शिक्षालय था जिसे आचार्य कुल, गुरुकुल या आश्रम कहते थे। गुरुकुल या आश्रम प्रायः अरण्यों के प्रशांत एवं सुरम्य वातावरण में, जहाँ आचार्य की गायों को चरने के लिए विस्तृत भू-भाग, यजन-पूजन, अग्निहोत्र आदि की सामग्रियों की उपलब्धता के लिए वृक्ष एवं पुष्पवाटिकाएँ, स्नान के लिए नदी या सरोवर तथा कृषि के लिए पर्याप्त भूमि एवं फलों से युक्त उद्यान विद्यमान हों, अवस्थित होते थे। उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्रह्मचारी गुरुकुलों में आचार्य के परिवार के सदस्य के रूप में उनके सतत् मार्गदर्शन में अध्ययन करते थे। आचार्य शिक्षण के प्रति समर्पित थे। वे ब्राह्मणत्व-ज्ञान, शील-सदाचार, धर्मज्ञता, सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह के साक्षात मूर्ति थे। शिक्षण आचार्य का व्यवसाय नहीं व्रत और संकल्प था। अध्ययन-अध्यापन उनका अनिवार्य धर्म (कर्तव्य) निर्धारित था। वे विद्या-दान के अडिग व्रती (मिशनरी) थे। आजीवन अध्ययन (यावज्जीवमधीते विप्रः), शोध, चिन्तन-मनन एवं तप साधना उनके जीवन का अभिन्न अंग था। समावर्तन संस्कार के समय वे स्वाध्याय एवं प्रवचन (विद्या-दान) से प्रमाद न करने का (स्वाध्याय प्रवचनाभयां न प्रमदितव्यम्) संकल्प लेते थे। इसके विपरीत आचरण पर उनके आचार्यत्व के विलुप्त होने का भय था।[24] गुरुकुल का अभीष्ट आचार्य एवं ब्रह्मचारी दोनों के ब्रह्मतेज एवं यश का संवर्धन था।[25] आचार्य अपने ज्ञान एवं शील-सदाचार का सर्वस्व शिष्य को समर्पित करते, अपने पास कुछ भी अवशेष नहीं रखते थे।[26] गुरु के साथ शिष्य का पुत्रवत् संबंध था। शिष्य उनके परिवार का एक अंग था। उसके आवास, भोजन, वस्त्र आदि समग्र सुविधाओं का प्रबंध आचार्य का दायित्व था।

गुरुकुल में प्रवेश के लिए पात्रता निर्धारित थी। उपनयन संस्कार के पूर्व शिष्य की कठोर परीक्षा ली जाती थी। इस परीक्षा में असफल होने पर आचार्य को यह स्वतंत्रता थी कि वह उसे गुरुकुल में प्रवेश न दें अथवा कुछ काल तक प्रतीक्षा करने को कहें।[27] अपात्र का गुरुकुल में प्रवेश निषेध था।[28] मेधावी, जिज्ञासु, आप्त, सेव्यभाव संपन्न, पवित्र आचरण वाले धर्मशील शिष्य को ही गुरुकुल में प्रवेश मिलता था।[29] विद्या शिष्य के लिए तप साधना थी। विद्यार्थी जीवन ब्रह्मचर्याश्रम था जिसमें शिष्य भौतिक आकर्षणों एवं ऐश्वर्यों से दूर रहते हुए ब्रह्मचर्य के लिए निर्धारित नियमों का कठोरता से पालन करते थे। शिष्य गुरुकुल में मात्र शिक्षार्थी नहीं, गुरु की सेवा के प्रति पूर्ण समर्पित थे। गुरुचर्या, अग्निहोत्र की सामग्रियों का प्रबंध, परिसर की सफ़ाई, गो-सेवा, पुष्पवाटिका

एवं गृह वाटिका में श्रम, भिक्षा ग्रहण के लिए भ्रमण आदि शिष्य की अनिवार्य दिनचर्या थी। फलत: प्राचीन भारत के विद्याश्रमों में शिक्षक-शिक्षार्थी के मध्य अत्यन्त आत्मीय संबंध थे। आज शिक्षण कार्य पूर्णत: व्यवसाय का रूप ग्रहण कर चुका है। इस व्यवसायीकरण का प्रभाव गुरु-शिष्य के पवित्र संबंधों पर भी पड़ा है। फलत: प्रभावी शिक्षण के लिए गुरु शिष्य का गुरुकुलीय पवित्र भाव आज भी हमारे लिए प्रासंगिक है।

चरित्र एवं अनुशासन

प्राचीन भारत में विद्या निकेतन आवासीय थे जहाँ ज्ञानार्जन, चारित्रिक विकास एवं अनुशासन का नैसर्गिक वातावरण विद्यमान था। ऋषि ऋतम्भरा प्रज्ञासम्पन्न, पवित्र जीवन जीने वाले, शिक्षा के लिए समर्पित ऋषि एवं आदर्श आचार्य थे। आचार्य विद्यालय के मात्र शिक्षक ही नहीं, शिक्षार्थी के गुरु भी थे। शिष्य के समग्र व्यक्तित्व के विकास पर उनकी सतत् सतर्क दृष्टि रहती थी। विद्यार्थी प्रात:काल से रात्रि में शयनपर्यन्त आचार्य के पर्यवेक्षण एवं निर्देशन में गुरुकुल के नियमों का पालन करते थे। शिष्य के साथ गुरु का पुत्रवत् संबंध था। चरित्र निर्माण विषयक विविध कार्यक्रम- संध्या, उपासना, अग्निहोत्र, वेदघोष, योग आसन, प्राणायाम, उपवास, व्रत, गुरुचर्या, गो-सेवा आदि गुरुकुल की दिनचर्या के अभिन्न अंग थे। गुरुकुल में विद्यार्थी शिक्षार्थी नहीं ब्रह्मचारी थे। ब्रह्मचर्य के नियमों का जीवन में आचरण विद्यार्थी के लिए अनिवार्य था। ब्रह्मचर्य से विद्यार्थी में मानसिक एकाग्रता, मन एवं इन्द्रियों पर नियंत्रण, प्रबल कार्यशक्ति एवं चारित्रिक-आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होती थी। शिक्षा भौतिक समृद्धि, चारित्रिक विकास एवं आध्यात्मिक उन्नयन अर्थात अद्वैतानुभूति-सभी प्राणियों में ईश्वरीय तत्त्व के दर्शन, यह अनुभूति कि हम, तुम और सब एक ही हैं, हम सब एक ही विराट पुरुष के अंश हैं, अत: जाति, वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय आदि के भेदभाव के बिना सबके प्रति करुणा, दया, प्रेम, बन्धुत्व के उदात्त् मानवीय मूल्यों के सृजन के लिए दी जाती थी।

अनुशासन के लिए सामान्यत: शारीरिक दण्ड (Corporal Punishment) का निषेध था किन्तु विशेष परिस्थितियों में लघु दण्ड अनुमन्य था। निर्धारित मात्र से अधिक दण्ड देने पर शिक्षक दण्ड की सीमा में थे।[30] आधुनिक विद्यालयों की तरह चरित्र, नैतिकता एवं अनुशासन के लिए नैतिक शिक्षा (Moral Education) की कक्षाएँ संचालित नहीं होती थीं। गुरुकुल का समग्र वातावरण ही चरित्र एवं अनुशासन का पर्याय था। अनुशासन का आधार उपदेश या प्रवचन नहीं बल्कि शिक्षक का आचरण एवं आदर्श व्यक्तित्व था। शिष्यों के लिए शिक्षक आदर्श प्रतिमान (Role Model) थे। आज हमारे शिक्षण संस्थान अपने प्राचीन गौरव को खो रहे हैं। विद्यार्थियों के चरित्र, अनुशासन एवं नैतिक मूल्यों में सतत् क्षरण हो रहा है। विद्यार्थियों में बढ़ती अनुशासनहीनता एवं चारित्रिक संकट के वर्तमान युग में क्या ही अच्छा होता कि शिक्षक स्वयं अपने आदर्श आचरण एवं प्रभावी व्यक्तित्व से विद्यार्थियों के लिए एक उदाहरण

बनते। वस्तुतः चरित्र एवं आचरण ही अनुशासन का मूल आधार होता है। माता-पिता, अभिभावक एवं शिक्षक स्वयं आदर्श प्रस्तुत कर अनुशासन का सच्चा पाठ पढ़ा सकते हैं।[31]

गुरुकुल एवं आश्रम, भारत की समृद्ध ज्ञान परंपरा के संवाहक रहे हैं। इन्हीं विद्या निकेतनों में ऋषियों ने ज्ञान के सर्वोच्च स्रोत वेद मंत्रों का दर्शन (अन्वेषण) एवं संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, आदि ग्रंथों का प्रणयन किया। इन्हीं में श्रुति परंपरा से वेद अधीत और संरक्षित हुए तथा वेद-वेदांग, धर्मशास्त्र, पुराण, दर्शन, व्याकरण, साहित्य, गणित, ज्योतिष, विज्ञान, आयुर्वेद, धनुर्वेद एवं विविध कलाओं के विशाल साहित्य का अध्ययन-अध्यापन एवं विकास सुनिश्चित हुआ। भारतीय ज्ञान-विज्ञान की विविध शाखाओं के प्रज्ञा पुरुष महर्षि वेदव्यास (वैदिक ज्ञान के पुरोधा), गौतम, आपस्तम्ब, बौधायन, विष्णु, मनु, याज्ञवल्क्य, नारद, बृहस्पति (धर्मशास्त्र एवं विधि विज्ञान), पाणिनि, कात्यायन एवं पतंजलि (व्याकरण शास्त्र एवं योग विज्ञान), चाणक्य (राजनीति एवं कूटनीति विज्ञान), कपिल (विश्व-रचना विज्ञान), कणाद (वैशेषिक दर्शन), धनवन्तरि, अश्वनी कुमार, चरक, सुश्रुत, अग्निवेश, भारद्वाज (आयुर्वेद एवं चिकित्सा विज्ञान), महर्षि परशुराम, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य (धनुर्वेद एवं सैन्य विज्ञान), नागार्जुन (रसायन विज्ञान), आर्यभट्ट, वराहमिहिर, भास्कराचार्य, ब्रह्मगुप्त (ज्योतिष एवं खगोल विज्ञान) आदि इन्हीं विद्या निकेतनों की वृहद् ज्ञान परंपरा की अमूल्य निधि हैं। प्राचीन भारतीय शैक्षिक दर्शन की कतिपय विशेषताएँ-गुरुकुल की आवासीय व्यवस्था, शिक्षक का उच्चतम आदर्श एवं शिक्षा के प्रति समर्पण, शिष्य से आचार्य का पुत्रवत् संबंध, गुरु-शिष्य का भावपूर्ण आत्मीय संबंध, शिक्षार्थी का पवित्र ब्रह्मचर्य जीवन, अभ्युदय एवं निःश्रेयस के लिए शिक्षा, स्वानुशासन, इकहरी शिक्षा व्यवस्था (सबके लिए समान शिक्षा, निःशुल्क शिक्षा) विद्यार्थी का सतत् मूल्यांकन आदि शिक्षा के गुणात्मक विकास के शाश्वत आदर्श हैं। स्वतंत्रता के लंबे अंतराल के बाद भी हम इस आदर्श को नहीं प्राप्त कर सके हैं और आज भी कदाचित् यह आदर्श देश के लिए प्रासंगिक बना हुआ है।

संदर्भ

1. सर अरनेस्ट बारकर, 1957, *ग्रीक पॉलिटिकल थ्योरी,* प्लूटो एण्ड हिज प्रेडिसेसर्स, लन्दन, पृ.-149
2. संविधान की धारा 45
3. शिक्षा अधिनियम-2009
4. दैनिक जागरण, दिनांक 30-12-2010
5. *तस्मात्पुत्रमनुशिष्टं लोक्यमाहुस्तस्मादेननुशास्ति।* -वृहदारण्याकोपनिषद् 1.5.7(डॉ. अनन्तसदाशिव अल्तेकर, 1955, *प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति,* वाराणसी, पृ. 18

6. याज्ञ. 3/229–242
7. मनु. 3/71, 4/21, याज्ञ. 1/102
8. *'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः'* मनु. 3/70
9. याज्ञ. 3/235
10. तोमर, लज्जाराम, *प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति,* केशवकुंज, नयी दिल्ली, पृ. 107
11. ऐतरेय आरण्यक 3.8.6
12. तोमर, लज्जाराम, *प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति,* पृ. 65
13. अर्थशास्त्र 1.2
14. तोमर, लज्जाराम, *प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति,* पृ. 53
15. *'प्रतिपादित बहुश्रुत विषयं न ब्राह्मणमात्र विषयम्।'*– याज्ञ. 2/4 पर मिताक्षरा व्याख्या, गौतम. 8.4–11
16. *असंभोज्या ह्यसंयाज्या असंपाठ्या विवाहिनः। चरेयुः पृथिवीं दीनाः सर्वधर्मबहिष्कृताः ।।* ज्ञाति संबन्धिमिस्त्वेते त्यक्तव्याः कृतलक्षणाः। निर्दया निर्नमस्कारास्तन्मनोरनुशासनम्।।
17. मनु. अध्याय 9 श्लोक 238–239
18. अल्तेकर, डॉ. अनन्त सदाशिव, *प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति,* पृ. 31
19. तोमर, लज्जाराम, *प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति,* पृ. 55
20. *यथेमां वाचं कल्याणीमा वदानिजनेभ्यः। ब्रह्म–राजन्याभ्यां शूद्राय चार्याय च स्वायचारणाय च।।*–वाजसनेयी संहिता 26/2, लज्जाराम तोमर, प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति, पृ. 56
21. वृहदारण्यकोपनिषद्, 2.1.15, डॉ. अनन्त सदाशिव अल्तेकर, *प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति,* पृ. 31
22. वही, पृ. 34
23. काणे, पी. वी., 1997, *हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र,* वाल्यूम 2, पार्ट–वन, थर्ड एडीशन, भण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुणे, पृ. 325।
24. वही, पृ. 367
25. काणे, पी. वी., वही, पृ. 329
26. *''सह नौ यशः। सह नौ ब्रह्मवर्चसम्।''* – तैत्तिरीयोपनिषद् 1, 3
27. आपस्तम्ब धर्मसूत्र 1.4.14.2–3
28. तोमर लज्जाराम, *प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति,* पृ.–60
29. मनुस्मृति 2.112–113
30. मनुस्मृति 2.109, 115, याज्ञवल्क्यस्मृति, 1.28
31. काणे, पी. वी., 1997, *हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र,* वाल्यूम 2, पार्ट– वन, थर्ड एडीशन, पृ. 362, मनुस्मृति 8.299
32. कलाम, ए. पी. जे. अब्दुल, 2002, *'इग्नाइटेड माइण्ड्स', पैंग्विन बुक्स लिमिटेड, नयी दिल्ली,* पृ. 78